जैन परम्परा में काशी

—डा. सागरमल जैन

(१) जैन परम्परा में प्राचीनकाल से ही काशी का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है। उसे चार तीर्थंकरों की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। जैन परम्परा के अनुसार सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस और पार्श्व की जन्मभूमि माना गया है। अयोध्या के पश्चात् अनेक तीर्थंकरों की जन्मभूमि माने जाने का गौरव केवल वाराणसी को ही प्राप्त है। सुपार्श्व और पार्श्व का जन्म वाराणसी में, चन्द्रप्रभ का जन्म चन्द्रपुरी में, जो कि वाराणसी से १५ किलोमीटर पूर्व में गंगा किनारे स्थित है, और श्रेयांस का जन्म सिंहपुरी—वर्तमान सारनाथ में माना जाता है। यद्यपि इसमें तीन तीर्थंकर प्राक् ऐतिहासिक काल के हैं किन्तु पार्श्व की ऐतिहासिकता को अमान्य नहीं किया जा सकता है—ऋषिभाषित (ई० पू० तीसरी शताब्दी)[1] आचारांग (द्वितीय-श्रुत स्कन्ध)[2] भगवती,[3] उत्तराध्ययन[4] और कल्पसूत्र (लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व)[5] में पार्श्व के उल्लेख हैं। कल्पसूत्र और अन्य जैनागमों में उन्हें पुरुषादानीय[6] कहा गया है। अंगुत्तरनिकाय में पुरुषाजानीय[7] शब्द आया है। वाराणसी के राजा अश्वसेन का पुत्र बताया गया है तथा उनका काल ई० पू० नवीं-आठवीं शताब्दी माना गया है।[8] अश्वसेन की पहचान पुराणों में उल्लेखित हर्यश्व से की जा सकती है।[9] पार्श्व के समकालीन अनेक व्यक्तित्व वाराणसी से जुड़े हुए हैं। आर्यदत्त उनके प्रमुख शिष्य थे।[10] पुष्पचूला प्रधान आर्या थी।[11] सुव्रत प्रमुख अनेक गृहस्थ उपासक[12] और सुनन्दा प्रमुख अनेक गृहस्थ उपासकायें[13] उनकी अनुयायी थीं। उनके प्रमुख गणधरों में सोम का उल्लेख है—सोम वाराणसी के विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र थे।[14] सोम का उल्लेख ऋषिभाषित में भी है।[15] जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के आठ गण और आठ गणधर माने गये हैं।[16] मोतीचन्द्र ने जो चार गण और चार गणधरों का उल्लेख किया है वह भ्रान्त एवं निराधार है।[17] वाराणसी में पार्श्व और कमठ तापस के विवाद की चर्चा जैन कथा साहित्य में है।[18] बौधायन धर्मसूत्र से 'पारशवः' शब्द है, सम्भवतः उसका सम्बन्ध पार्श्व के अनुयायियों से हो यद्यपि मूल प्रसंग वर्णशंकर का है।[19] पार्श्व के समीप इला, सतेश, सौदामिनी, इन्द्रा, धन्ना, विद्युता आदि वाराणसी की श्रेष्ठि पुत्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख ज्ञाता धर्मकथा (ईसा की प्रथम शती) में है।[20] उत्तराध्ययन काशीराज के दीक्षित होने की सूचना देता है।[21] काशीराज का उल्लेख महावग्ग व महाभारत में भी उपलब्ध है। अन्तकृत्दशांग से काशी के राजा अलक्ष/अलर्क (अलक्ख) के महावीर के पास दीक्षित होने की सूचना मिलती है।[22] अलर्क का काशी के राजा के रूप में

www.jainelibrary.org

उल्लेख मत्स्यपुराण में है।[3] यद्यपि अलक्ष के अतिरिक्त शंख, कटक, धर्मरुचि नामक काशी के राजाओं के उल्लेख जैन कथा साहित्य में हैं किन्तु ये सभी महावीर और पार्श्व के पूर्ववर्ती काल के बताये गये हैं। अतः इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है। महावीर के समकालीन काशी के राजाओं में अलर्क/अलक्ष के अतिरिक्त जितशत्रु का उल्लेख भी उपासकदशांग में मिलता है।[24] किन्तु जितशत्रु ऐसा उपाधिपरक नाम है जो जैन परम्परा में अनेक राजाओं को दिया गया है। अतः इस नाम के आधार पर ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालना कठिन है। महावीर के दस प्रमुख गृहस्थ उपासकों में चुलनिपिता और सुरादेव वाराणसी के माने गये हैं—दोनों ही प्रतिष्ठित व्यापारी रहे हैं—उपासकदशांग इनके विपुल वैभव और धर्मनिष्ठा का विवेचन करता है।[25] महावीर स्वयं वाराणसी आये थे।[26] उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशी और यज्ञीय नामक अध्याय के पात्रों का सम्बन्ध भी वाराणसी से है दोनों में जातिवाद और कर्मकाण्ड पर करारी चोट की गई है।[27] पार्श्वनाथ के युग से वर्तमान काल तक जैन परम्परा को अपने अस्तित्व और ज्ञान प्राप्ति के लिए वाराणसी में कठिन संघर्ष करना पड़े हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम उन सबकी एक संक्षिप्त चर्चा करेंगे। किन्तु इससे पूर्व जैन आगमों में वाराणसी की भौगोलिक स्थिति का जो चित्रण उपलब्ध है उसे दे देना भी आवश्यक है।

(२) जैन आगम प्रज्ञापना में काशी की गणना एक जनपद के रूप में की गई है और वाराणसी को उसकी राजधानी बताया गया है। काशी की सीमा पश्चिम में वत्स, पूर्व में मगध, उत्तर में विदेह और दक्षिण में कोसल बतायी गयी है। बौद्ध ग्रन्थों में काशी के उत्तर में कोशल को बताया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में वाराणसी की उत्तर-पूर्व दिशा में गंगा की स्थिति बताई गई है। वहीं मृतगंगातीरद्रह (तालाब) भी बताया गया है।[28] यह तो सत्य है कि वाराणसी के निकट गंगा उत्तर-पूर्व होकर बहती है। वर्तमान में वाराणसी के पूर्व में गंगा तो है किन्तु किसी भी रूप में गंगा की स्थिति वाराणसी के उत्तर में सिद्ध नहीं होती है। मात्र एक ही विकल्प है वह यह कि वाराणसी की स्थिति राजघाट पर मानकर गंगा को नगर के पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण में स्वीकार किया जाये तो ही इस कथन की संगति बैठती है। उत्तराध्ययनचूर्णि में 'मयंग' शब्द की व्याख्या मृतगंगा के रूप में की गई है—इससे यह ज्ञात होता है कि गंगा की कोई ऐसी धारा भी थी जो कि नगर के उत्तर-पूर्व होकर बहती थी किन्तु आगे चलकर यह धारा मृत हो गई अर्थात् प्रवाहशील नहीं रही और इसने एक द्रह का रूप ले लिया। यद्यपि मोतीचन्द्र ने इसकी सूचना दी है किन्तु इसका योग्य समीकरण अभी अपेक्षित है। गंगा की इस मृतधारा की सूचना जैनागमों और चूर्णियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। यद्यपि प्राकृत शब्द मयंग का एक रूप मातंग भी होता है ऐसी स्थिति में उसके आधार पर उसका एक अर्थ गंगा के किनारे मातंगों की बस्ती के निकटवर्ती तालाब से भी हो सकता है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उसके समीप मातंगों (श्वपाकों) की वस्ती स्वीकृत की गई है।[29] जैनागमों में वाराणसी के समीप आश्रमपद (कल्पसूत्र)[30] कोष्टक (उपासकदशांग)[31] अम्बशालवन (निरयावलिका)[32] काममहावन (अन्तकृत्दशांग)[33] और तेंदुक (उत्तराध्ययननिर्युक्ति)[34] नामक उद्यानों एवं वनखण्डों के उल्लेख हैं। औपपातिक सूत्र से गंगा के किनारे बसनेवाले अनेक प्रकार के तापसों की सूचना हमें उपलब्ध होती है। विस्तारभय से यहाँ उन सबका उल्लेख आवश्यक नहीं है। किन्तु उससे उस युग की धार्मिक स्थिति का पता अवश्य चल जाता है।[35]

जैनागमों में हमें वाराणसी का शिव की नगरी के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है—मात्र १४ वीं शताब्दी में विविधतीर्थ कल्प में इसका उल्लेख मिलता है जबकि यहाँ यक्षपूजा के प्रचलन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वाराणसी के उत्तर-पूर्व दिशा में तेंदुक उद्यान में गण्डी यक्ष के यक्षायतन का उल्लेख मिलता है। यही यक्ष हरिकेशबल नामक चाण्डालजाति के जैन श्रमण पर प्रसन्न हुआ था। उत्तराध्ययन सूत्र (ईसा-पूर्व) में और उसकी निर्युक्ति में यह कथा विस्तार से दी गई है। हरकेशबल मुनि भिक्षार्थ यज्ञ मण्डप में जाते हैं, चाण्डाल जाति के होने के कारण मुनि को यक्ष मण्डप से भिक्षा नहीं दी जाती है और उन्हें यज्ञमण्डप से मारकर निकाला जाता है—यक्ष कुपित होता है—सभी क्षमा माँगते हैं, हरिकेश सच्चे यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं आदि[36]। प्रस्तुत कथा से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है—यक्ष-पूजा का श्रमण परम्परा में उतना विरोध नहीं था जितना कि हिंसक यज्ञों के प्रति था। उत्तराध्ययन की यह यज्ञ की नवीन आध्यात्मिक परिभाषा हमें महाभारत में भी मिलती है। हो सकता है कि हरिकेश की इसी घटना के कारण वाराणसी का यह गण्डीयक्ष हरिकेश यक्ष के नाम से जाना जाने लगा हो। मत्स्यपुराण में हरिकेश यक्ष की कथा वर्णित है—उसे सात्विकवृत्ति का और तपस्वी बताया गया किन्तु उसे शिवभक्त के रूप में दर्शित किया गया है।[37] उत्तराध्ययन की कथा—मत्स्यपुराण की अपेक्षा प्राचीन है। कथा का मूल स्रोत एक है और उसे अपने धर्मों के रूपान्तरित किया गया है। यक्ष-पूजा के प्रसंग की चर्चा करते हुए श्री मोतीचन्द्र ने उत्तराध्ययन के ३/१४ और १६/१६ ऐसे दो सन्दर्भ दिये हैं—किन्तु वे दोनों ही भ्रान्त हैं।[38] हरिकेशबल का चाण्डाल श्रमण विवरण और उसका सहायक यक्ष का विवरण उत्तराध्ययन के १२ वें अध्याय में है। गण्डि तिंदुक यक्ष का नामपूर्वक उल्लेख उत्तराध्ययन निर्युक्ति में है।[39]

(३) जैनधर्म प्रारम्भ से ही कर्मकाण्ड और जातिवाद का विरोधी रहा है—और उनके इस विरोध की तीन घटनाएँ वाराणसी के साथ ही जुड़ी हुई है—प्रथम घटना—पार्श्वनाथ और कमठ तापस के संघर्ष की है, दूसरी घटना हरिकेशबल की याज्ञिकों से विरोध की है—जिसमें जातिवाद और हिंसक यज्ञों का खण्डन है—और तीसरी घटना जयघोष और विजयघोष के बीच संघर्ष की है इसमें भी सदाचारी व्यक्ति को सच्चा ब्राह्मण कहा गया है और वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध जन्म के स्थान पर कर्म से बताया गया है।

पार्श्व के युग से ही हमें जैन साहित्य में इन संघर्षों के कुछ उल्लेख मिलते हैं। वस्तुतः ये संघर्ष मुख्यतः कर्मकाण्डीय परम्परा को लेकर थे। जैसा कि सुविदित है कि जैन परम्परा हमेशा कर्मकाण्डों का विरोध करती रही। उसका मुख्य बल आन्तरिक शुद्धि, संयम और ज्ञान का रहा है। पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र माने जाते हैं। पार्श्व को अपने बाल्यकाल में सर्वप्रथम उन तापसों से संघर्ष करना पड़ा जो देहदण्डन को ही धार्मिकता का समस्त उत्स मान बैठे थे और अज्ञानयुक्त देहदण्डन को ही धर्म के नाम पर प्रसारित कर रहे थे। पार्श्वनाथ के समय में कमठ की एक तापस के रूप में बहुत प्रसिद्धि थी। वह पंचाग्नि तप करता था। उसके पंचाग्नि तप में ज्ञात या अज्ञात रूप से अनेक जीवों की हिंसा होती थी। पार्श्व ने उसे यह समझाने का प्रयास किया कि धर्म मात्र कर्मकाण्ड नहीं, उसमें विवेक और आत्मसंयम आवश्यक है। किन्तु आत्मसंयम का तात्पर्य भी मात्र देहदण्डन नहीं है। पार्श्व धार्मिकता के क्षेत्र में अन्धविश्वास और जड़क्रियाकाण्ड का विरोध करते हैं और इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा को अपनी स्थापना के लिए सर्वप्रथम जो संघर्ष करना पड़ा उसका केन्द्र वाराणसी ही था। पार्श्वनाथ और कमठ के संघर्ष की सूचना हमें जैन साहित्य में तीर्थोद्गारिक[40] तथा आवश्यक-निर्युक्ति[41] में मिलती है। पार्श्वनाथ और कमठ का संघर्ष वस्तुतः ज्ञानमार्ग और देहदण्डन/कर्मकाण्ड का

www.jainelibrary.org

संघर्ष था। कमठ और पार्श्व के अनुयायियों के विवाद की सूचना बौधायन धर्मसूत्र में भी है। जैन परम्परा और ब्राह्मण परम्परा के बीच दूसरे संघर्ष की सूचना हमें उत्तराध्ययनसूत्र से प्राप्त होती है। यह संघर्ष मूलतः जातिवाद या ब्राह्मणवर्ग की श्रेष्ठता को लेकर था। उत्तराध्ययन एवं उसकी निर्युक्ति से हमें यह सूचना प्राप्त होती है कि हरकेशिबल और रुद्रदेव के बीच एवं जयघोष और विजयघोष के बीच होने वाले विवादों का मूल केन्द्र वाराणसी ही था।[42] ये चर्चाएं आगम ग्रन्थों और उनकी निर्युक्तियों और चूर्णियों में उपलब्ध हैं और ईसा पूर्व में वाराणसी में जैनों की स्थिति की सूचना देती हैं।

(४) गुप्तकाल में वाराणसी में जैनों की क्या स्थिति थी इसका पूर्ण विवरण तो अभी खोज का विषय है। हो सकता है कि भाष्य और चूर्णी साहित्य से कुछ तथ्य सामने आयें। पुरातात्विक प्रमाणों—राजघाट से प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति और पहाड़पुर से प्राप्त गुप्त संवत् १५८ (४७९ ई०) के एक ताम्रपत्र से इतना तो निश्चित हो जाता है कि उस समय यहाँ जैनों की बस्ती थी। यह ताम्रपत्र यहाँ स्थित वटगोहाली विहार नामक जिन-मन्दिर की सूचना देता है।

इस विहार का प्रबन्ध आचार्य गुणनन्दि के शिष्य करते थे। आचार्य गुणनन्दि पचस्तूपान्वय में हुए हैं।[43] पंचस्तूपान्वय श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं से भिन्न यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित था। इस ताम्रपत्र से यह भी ज्ञात हो जाता है कि मथुरा के समान वाराणसी में भी यापनीयों का प्रभाव था।

गुप्तकाल की एक अन्य घटना जैन आचार्य समन्तभद्र से सम्बन्धित है। ऐसा लगता है कि गुप्तकाल में वाराणसी में ब्राह्मणों का एकच्छत्र प्रभाव हो गया था। जैन अनुश्रुति के अनुसार समन्तभद्र जो कि जैन परम्परा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे, उन्हें भस्मक रोग हो गया था और इसके लिए वे दक्षिण से चलकर वाराणसी तक आये थे। अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने यहाँ शिव-मन्दिर में पौरोहित्य-कर्म किया और शिव के प्रचुर नैवेद्य से क्षुधा-तृप्ति करते रहे। किन्तु एक बार वे नैवेद्य को ग्रहण करते हुए पकड़े गये और कथा के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए स्वयम्भू स्तोत्र की रचना की और शिवलिंग से चन्द्रप्रभ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रकट की।[44]

यह कथा एक अनुश्रुति ही है किन्तु इससे दो-तीन बातें फलित होती हैं। प्रथम तो यह कि समंतभद्र को अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए और अन्य दर्शनों के ज्ञान को अर्जित करने के लिए सुदूर दक्षिण से चलकर वाराणसी आना पड़ा, क्योंकि उस समय भी वाराणसी को विद्या का केन्द्र माना जाता था। उनके द्वारा शिव मन्दिर में पौरोहित्य कर्म को स्वीकार करना सम्भवतः यह बताता है कि या तो उन्हें जैनमुनि के वेश में वैदिक परम्परा के दर्शनों का अध्ययन कर पाना सम्भव न लगा हो अथवा यहाँ पर जैनों की बस्ती इतनी नगण्य हो गयी हो कि उन्हें अपनी आजीविका की पूर्ति के लिए पौरोहित्य कर्म स्वीकार करना पड़ा। वस्तुतः उनका यह छद्मवेष का धारण विद्या अर्जन के लिए ही हुआ होगा, क्योंकि ब्राह्मण पंडित नास्तिक माने जाने वाले नग्न जैन मुनि को विद्या प्रदान करने को सहमत नहीं हुए होंगे। इस प्रकार जैनों को विद्या अर्जन के लिए भी वाराणसी में संघर्ष करना पड़ा है।

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि गुप्तकाल में काशी में जैनों का अस्तित्व रहा है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उस काल में इस नगर में जैनों का कितना—क्या प्रभाव था? पुरातात्विक साक्ष्य केवल हमें यह सूचना देते हैं कि उस समय यहां जैन मन्दिर थे। काशी से जो जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें ईसा की लगभग छठी शताब्दी की महावीर की मूर्ति महत्वपूर्ण है। यह मूर्ति भारत कला भवन में है (क्रमांक १६१)। राजघाट से प्राप्त नेमिनाथ की मूर्ति भी लगभग सातवीं शताब्दी की मानी जाती है। यह मूर्ति भी भारत कला भवन में है। अजितनाथ की भी लगभग सातवीं शताब्दी की एक मूर्ति वाराणसी में उपलब्ध हुई है जो वर्तमान में राजकीय संग्रहालय लखनऊ में स्थित है (क्रमांक ४९—१९९)। इसी प्रकार पार्श्वनाथ की भी लगभग आठवीं शताब्दी की एक मूर्ति जो कि राजघाट से प्राप्त हुई थी राजकीय संग्रहालय लखनऊ में है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि ईसा की पांचवीं छठी शताब्दी से लेकर आठवीं शती तक वाराणसी में जैन मंदिर और मूर्तियाँ थीं। इसका तात्पर्य यह भी है कि उस काल में यहाँ जैनों की बस्ती थी।

पुनः नवी, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के भी जैन पुरातात्विक अवशेष हमें वाराणसी में मिलते हैं। नवीं शताब्दी की विमलनाथ की एक मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में उपलब्ध है (क्रमांक २३६)। पुनः राजघाट से ऋषभनाथ की एक दसवीं शताब्दी की मूर्ति तथा ग्यारहवीं शताब्दी की तीर्थंकर मूर्ति का शिरोभाग उपलब्ध हुआ है। ये मूर्तियां भी भारत कला भवन में उपलब्ध हैं (क्रमांक १७६ तथा १९७)। उपर्युक्त अधिकांश मूर्तियों के कालक्रम का निर्धारण डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने अपने लेख "काशी में जैनधर्म और कला" में किया है।[45] हमने उन्हीं के आधार पर यह कालक्रम प्रस्तुत किया है। पुनः हमें बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी की वाराणसी के सम्बन्ध में प्रबन्धकोश और विविधतीर्थकल्प से सूचना मिलती है। प्रबन्धकोश में हर्षकविप्रबन्ध में वाराणसी के राजा गोविन्दचन्द्र और उनके पुत्रों विजयचन्द्र आदि के उल्लेख हैं।[46] तेजपाल वस्तुपाल द्वारा वाराणसी तक के विविध जिन मन्दिरों के जीर्णोद्धार के उल्लेख हैं।[47] विविधतीर्थकल्प में वाराणसी के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, उसमें अधिकांश तो आगमकालीन कथाएँ ही हैं किन्तु विविधतीर्थकल्प के कर्ता ने इसमें हरिश्चन्द्र की कथा को भी जोड़ दिया है। इस ग्रन्थ से चौदहवीं शताब्दी की वाराणसी के सम्बन्ध में दो-तीन सूचनाएँ मिलती हैं।[48] प्रथम तो यह कि यह एक विद्या नगरी के रूप में विख्यात थी और दूसरे परिबुद्ध जनों (संन्यासियों) एवं ब्राह्मणों से परिपूर्ण थी। वाराणसी के सन्दर्भ में विविधतीर्थकल्पकार ने जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है वह यह कि वाराणसी उस समय चार भागों में विभाजित थी। देव वाराणसी जहाँ विश्वनाथ का मन्दिर था और वहीं जिनचतुर्विंशतिपट्ट की पूजा भी होती थी। दूसरी राजधानी वाराणसी थी जिसमें यवन रहते थे। तीसरी मदन वाराणसी और चौथी विजय वाराणसी थी। इसके साथ ही इन्होंने वाराणसी में पार्श्वनाथ के चैत्य, सारनाथ के धर्मेक्षा नामक स्तूप तथा चन्द्रावती में चन्द्रप्रभ का भी उल्लेख किया है। उस समय वाराणसी में बन्दर इधर-उधर कूदा करते थे, पशु भी घूमा करते थे और धूर्त भी निस्संकोच टहलते रहते थे।[49] जिनप्रभ के इस वर्णन से ऐसा लगता है कि उन्होंने वाराणसी का आँखों देखा वर्णन किया है। देव वाराणसी को विश्वनाथ मन्दिर के आस-पास के क्षेत्र से आज भी जोड़ा जा सकता है। राजधानी वाराणसी का सम्बन्ध श्री मोतीचन्द्र ने आदमपुर और जैतपुर के क्षेत्रों से बताया है। श्री मोतीचन्द्र ने मदन वाराणसी को गाजीपुर की जमनिया तहसील में स्थित तथा विजय वाराणसी को मिर्जापुर के विजयगढ़ से सम्बन्धित माना है किन्तु मेरी दृष्टि से मदन वाराणसी और विजय वाराणसी बनारस के ही अंग होने चाहिए। कहीं मदन वाराणसी आज का मदनपुरा तो नहीं था। इसी प्रकार विजय वाराणसी वर्तमान मेलूपुर के आस-पास तो स्थित नहीं थी। विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध में अधिक गवेषणा कर सूचना देंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में वाराणसी में जैनों की स्थिति के सम्बन्ध में भी हमें पुरातात्विक एवं साहित्यिक दोनों प्रकार के ही साक्ष्य मिलते हैं। प्रथम तो यहाँ के वर्तमान मन्दिरों की अनेक प्रतिमायें इसी काल की हैं। दूसरे, इस काल के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी वाराणसी के जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं। तीसरे, इस काल की वाराणसी के सम्बन्ध में कुछ संकेत हमें बनारसीदास के के अर्धकथानक से मिल जाते हैं। बनारसीदास जो मूलतः आगरा के रहने वाले थे अपने व्यवसाय के लिए काफी समय बनारस में रहे और उन्होंने अपनी आत्मकथा (अर्धकथानक) में उसका उल्लेख भी किया है। उनके उल्लेख के अनुसार १५९८ ई० में जौनपुर के सूबेदार नवाब किलीच खाँ ने वहां के सभी जौहरियों को पकड़कर बन्द कर दिया था। उन्होंने अर्धकथानक में विस्तार से सोलहवीं शताब्दी के बनारस का वर्णन किया है।[59] यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।

सत्रहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय नामक जैन श्वेताम्बर मुनि गुजरात से चलकर बनारस अपने अध्ययन के लिए आये थे। वाराणसी सदैव से विद्या का केन्द्र रही और जैन विद्वान् अन्य धर्म-दर्शनों के अध्ययन के लिए समय-समय पर यहाँ आते रहे। यद्यपि यह भी विचारणीय है कि इस सम्बन्ध में उन्हें अनेक बार कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा। सोलहवीं, सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी की जैन मूर्ति या तथा हस्तलिखित ग्रन्थ वाराणसी में उपलब्ध हैं, यद्यपि विस्तृत विवरण का अभाव ही है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वाराणसी में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। बिशप हेबर ने उस समय जैनों के पारस्परिक झगड़ों का उल्लेख किया है। सामान्यतया जैन मन्दिरों में अन्यों का प्रवेश वर्जित था। बिशप हेबर को प्रिंसेप और मेकलियड के साथ जैन मन्दिर में प्रवेश की अनुमति मिली थी। उसने अपने जैन मन्दिर जाने का एवं वहाँ जैन गुरु से हुई उसकी भेंट का तथा स्वागत का विस्तार से उल्लेख किया है (देखें—काशी का इतिहास—मोतीचन्द्र, पृ० ४०२—४०३)। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में जैन आचार्यों ने इस विद्या नगरी को जैन विद्या के अध्ययन का केन्द्र बनाने के प्रयत्न किये। चूंकि ब्राह्मण अध्यापक सामान्यतया जैन को अपनी विद्या नहीं देना चाहते थे अतः उनके सामने दो ही विकल्प थे, या तो छद्म वेष में रहकर अन्य धर्म-दर्शनों का ज्ञान प्राप्त किया जाये अथवा जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन का कोई स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित किया जाये। गणेशवर्णी और विजयधर्म सूरि ने यहाँ स्वतन्त्ररूप से जैन विद्या के अध्ययन के लिए पाठशालाएँ खोलने का निर्णय लिया। उसी के परिणामस्वरूप अंग्रेजी कोठी में यशोविजय पाठशाला और भदैनी में स्याद्-वाद महाविद्यालय की नींव रखी गयी। श्वेताम्बर परम्परा के दिग्गज जैन विद्वान् पं० सुखलालजी संघवी, पण्डित बेचरदास जी, पण्डित हरगोबिन्ददास जी आदि जहां यशोविजय पाठशाला की उपज हैं वहीं दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पण्डित कैलाशचन्द्र जी, पण्डित फूलचन्द्रजी आदि स्याद्वाद महा-विद्यालय की उपज हैं। दिगम्बर परम्परा के आज के अधिकांश विद्वान् स्याद्वाद महाविद्यालय से ही निकले हैं। यशोविजय पाठशाला यद्यपि अधिक समय तक नहीं चल सकी किन्तु उसने जो विद्वान् तैयार किये उनमें पण्डित सुखलाल जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन के अध्यापक बने और उन्होंने अपनी प्रेरणा से पार्श्वनाथ विद्याश्रम को जन्म दिया, जो कि आज वाराणसी में जैन विद्या के उच्च अध्ययन एवं प्रकाशन का एक प्रमुख केन्द्र बन चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्वनाथ के युग से लेकर वर्तमान काल तक लगभग अठाईस सौ वर्षों की सुदीर्घ कालावधि में वाराणसी में जैनों का निरन्तर अस्तित्व रहा है और इस नगर ने जैन विद्या और कला के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. ऋषिभाषित ३१ ।
२. आचारांग सूत्र २, १५, ७४५ ।
३. भगवती सूत्र पृ० २२६, ३७८ ।
४. उत्तराध्ययन सूत्र २३, १ ।
५. कल्पसूत्र १४८ ।
६. वही १४८ ।
७. अंगुत्तर निकाय ७, २६० ।
८. कल्पसूत्र १४८ ।
९. काशी का इतिहास-मोतीचन्द्र, पृष्ठ २२ ।
१०. कल्पसूत्र १५७ ।
११. वही १५७ ।
१२. वही १५७ ।
१३. वही १५७ ।
१४. वही १५६ ।
१५. ऋषिभाषित ४२ ।
१६. कल्पसूत्र १५६ ।
१७. काशी का इतिहास-मोतीचन्द्र, पृ० ३८ ।
१८. चउपन्नमहापुरिसचरिय २१६ ।
१९. बौधायन धर्मसूत्र, १, ९, १७, ३ ।
२०. ज्ञाताधर्मकथा २, ३, २-६ ।
२१. उत्तराध्ययनसूत्र, १८, ४९ ।
२२. अन्तकृतदशांग ६, १६ ।
२३. मत्स्यपुराण १८०, ६८ ।
२४. उपासकदशांग ४, १ ।
२५. वही ४, १ ।
२६. आवश्यकनिर्युक्ति ५१७ एवं उपासकदशांग ४, १ ।
२७. देखें, उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय १२ और २५ ।
२८. तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नाम नयरी होत्था, वन्नओ । तीसे ण वाणारसीए नयरीए बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसिभागे गंगाए महानदीए मयंगतीरद्दहे नामं दहे होत्था । —ज्ञाताधर्मकथा, ४, २ ।
२९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, अध्याय १२, पृष्ठ ३५५ । ३०. कल्पसूत्र, १५३ ।
३१. उपासकदशांग, ३, १२४ । आवश्यकनिर्युक्ति, १३०२ ।
३२. निरयावलिका ३, ३ । ३३. अन्तकृद्दशांग ६, १६ ।
३४. उत्तराध्ययननिर्युक्ति अध्याय १२, पृष्ठ ३५५ । ३५. औपपातिक सूत्र ७४ ।
३६. उत्तराध्ययन, अध्याय १२ ।
३७. मत्स्यपुराण—१८०, ६-२० एवं १८०, ८८-९९ उद्धृत काशी का इतिहास पृ० ३३ ।
३८. काशी का इतिहास-मोतीचन्द्र, पृ० ३२-३३ । ३९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति अध्याय १२, पृष्ठ ३५५ ।
४०. तीर्थोद्गारिक । ४१. आवश्यकनिर्युक्ति ।
४२. उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय १२ एवं २५ । ४३. देखें—काशी का इतिहास—मोतीचन्द पृ० १०० ।
४४. वीर शासन के प्रभावक आचार्य—डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर पृ० ३३ ।
४५. काशी में जैनधर्म और कला—डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ।
४६. प्रबन्ध कोश—हर्षकवि प्रबन्ध । ४७. वही, वस्तुपाल प्रबन्ध ।
४८. विविधतीर्थकल्प, वाराणसी कल्प । ४९. वही ।
५०. अर्ध कथानक-उद्धृत, काशी का इतिहास—मोतीचन्द्र पृष्ठ २१० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org